कहानी

दीमक

गोविन्द सेन

किताबों पर काली फफूंद ने कब्जा जमा लिया था. दीमकों ने वहाँ अपना एक पूरा शहर बसा लिया था. प्राणों से भी प्रिय किताबों की दुर्गति देख अशोक का दिल बैठ गया. दीमक और फफूंद के ऐसे संयुक्त हमले की उसने कल्पना भी नहीं की थी. ऐसा कभी हुआ नहीं था. उसे यकीन ही नहीं हो रहा था. ये किताबें ही उसका संचित धन थीं. लग रहा था कि उसकी बरसों की कमाई सहसा लुट गई हो.

टांड के ऊपर फफूंद और दीमकों का राज हो गया था और उस गाफिल को इसका पता भी न चल सका. उसे बेहद बहुत अफसोस हो रहा था. इस टांड पर किताबों के अलावा कुछ और सामान भी रखा था. उसने रामचरित मानस और शब्दकोशों जैसी मोटी किताबों को रखकर पढ़ने के लिए लकड़ी की एक रिहल भी ले रखी थी. उस पर भी काली फफूंद चढ़ चुकी थी. उस पर लगी काली फफूंद किसी अमूर्त पेंटिंग की तरह लग रही थी. लंबे काले-काले कई आकार उभर गए थे जैसे किसी सिद्धहस्त चित्रकार का कमाल हो. उसे खुद स्कूल के जमाने से ही ड्राइंग-पेंटिंग करने और कविता-कहानी पढ़ने का शौक था. उसने ग्यारहवीं में प्रेमचंद का रंगीन पोर्टेट बनाया था. उसे यादगार के तौर पर सुरक्षित रखने के लिए लकड़ी की फ्रेम में काँच से मढ़वा लिया था. लेकिन लकड़ी की फ्रेम को भी दीमकों ने जगह-जगह खा लिया था. काँच और प्रेमचंद जी के चित्र के नीचे जो रद्दी कागज की गद्दी को भराव के लिए रखा गया था उसमें भी दीमकों की एक बस्ती आबाद हो चुकी थी. चित्र करीब चालीस साल पहले वाटर कलर से बना होने से धुंधला हो गया था. दीमकें प्रेमचंद जी के भाल का बड़ा हिस्सा और एक आँख को चट कर चुकी थी.

पड़ोस में लगभग एक साल से मकान बन रहा था. उसके एक ओर की दीवार अशोक के मकान से चिपकी थी. उधर निर्माण के दौरान दीवार पर पानी से तरी की जाती रही थी. उसकी नमी इधर उसके मकान की दीवार तक आ गई थी. इसी नमी ने फफूंद और दीमकों को आमंत्रण दिया होगा.

वह मिडिल स्कूल में शिक्षक था. पढ़ने का उसे शुरू से ही शौक था किंतु विद्यार्थी जीवन में वह अपने इस शौक को पूरा नहीं कर पाया था. वह किताबों के लिए तरसता रहता था. तब किताबों को खरीदने के लिए उसके पास पैसे नहीं होते थे. नौकरी लगने के बाद वह मनचाही किताबें खरीदने लगा था. कई साहित्यिक पत्रिकाएँ भी वह बुलाने लगा था. वह एक ऐसे लेखक से भी मिला था जिन्होंने अपनी किताबों को रखने के लिए एक अलग कमरा ही किराए पर ले रखा था. वे खुद गाँव में एक किराए के मकान में रहते थे. वे उसी गाँव में शिक्षक थे. इस मिसाल ने अशोक को बहुत प्रेरित किया था. वह उसी तर्ज पर अपनी निजी लायब्रेरी बनाने लगा था.

साल दर साल कई किताबें और पत्रिकाओं के इतने बंडल इकट्ठा हो गए थे कि उन्हें रखने की समस्या पैदा हो गई थी. पत्नी ने एतराज जताया कि कब तक वे यूँ किताबें इकट्ठा करता रहेंगे. सुझाव दिया कि जो किताबें रखना हो उन्हें रखें और बाकी को रद्दी में जाने दें. पुरानी पत्रिकाओं को तो रद्दी में दे ही देना उचित होगा. अशोक को भी बात ठीक लगी थी. वह उनका ठीक रखरखाव भी नहीं कर पा रहा था. कई दिनों तक मन में उथल-पुथल होती रही. किताबों को रद्दी में बेचने के लिए खुद को तैयार करता रहा था. किताबों का मोह छूट नहीं पा रहा था. आखिरकार वह किताबों की छंटनी में जुट ही गया. कुछ मित्रों को भी इतला कर दिया था कि वे चाहें तो किताबें पढ़ने के लिए ले जाएँ और अपने पास ही रख लें. अंत में अशोक ने दो-तीन किश्तों में पत्रिकाओं और किताबों को रद्दी में बेच दिया था. किताबों को बेचते हुए उसे वैसा ही कष्ट हुआ था जैसे किसी किसान को मजबूरीवश अपने प्रिय बैलों को बेचने पर होता होगा. कोई और जानकारी उसे हो न हो पर वह जानकारी बराबर रहती थी कि साहित्यिक किताबें-पत्रिकाएँ कहाँ मिलती हैं. शहर में कहाँ-कहाँ पत्रिकाएँ और पुस्तकें मिलती है, उसे पता था. जैनसन बुकशाप, सर्वोदय साहित्य भंडार पर अच्छी साहित्यिक किताबें मिल जाया करती थी.

उसे अपने कस्बे में पुस्तकालय का न होना बेहद अखरता था. वह अपने कस्बे को बेहद शुष्क मानता था. यहाँ के लोग रूखे-सूखे हैं. लोगों में पढ़ने के प्रति कोई रुचि नहीं है. अपने विद्यार्थी जीवन में उन्होंने जितना पढ़ना था, पढ़ लिया था या उसके बाद कायदे से उन्होंने कोई किताब नहीं पढ़ी थी. यही हाल उसके साथी शिक्षकों का भी था जिनका काम ही पढ़ाना होता था. वे समझते थे कि उनका काम तो पढ़ाना है, पढ़ना नहीं. उन्होंने केवल परीक्षा पास करने के लिए ही किताबों को पढ़ा होगा, ज्ञान या साहित्य का रस पाने के लिए नहीं. गाइडों से उत्तर रटे थे.

होटलों-दुकानों पर और स्कूल में आने वाले मुफ्त के अखबार तो वे दिनभर चाटते रहेंगे पर अन्य स्तरीय किताबें उन्हें काटने को दौड़ती थी. राजनीति पर बात करते हुए पूरा-पूरा दिन गुजार देंगे पर साहित्य के बारे में कुछ नहीं जानते थे. उनके साहित्यिक ज्ञान की पराकाष्ठा यह थी कि वे प्रेमचंद को भी महाकवि बता देते थे. मुक्तिबोध किस चिड़िया का नाम है, उन्हें पता नहीं था. उनके लिए सबसे बड़े कवि मंचीय कवि ही थे. लोग किताबों की कद्र भी नहीं करते. यदि किसी को किताब पढ़ने को दी तो वह उसे लौटाने की जहमत नहीं उठाता. उन्हें यह पता ही नहीं कि किताबों को भी अन्य वस्तुओं की तरह लौटाना पड़ता है. अन्य वस्तुएँ तो बाजार में आसानी से मिल सकती हैं, पर किताबें नहीं मिलतीं. उसकी बड़ी इच्छा होती थी कि लोग किताबें पढ़ें. इसलिए वह उन्हें पढ़ने के लिए किताबें देता भी था, पर या तो वे लौटाते नहीं थे या लौटाते भी तो बहुत खराब हालत में. कोई उसके पन्नों का इस्तेमाल नोटबुक की तरह कर लेता था तो कोई उस पर अपने हस्ताक्षर की प्रैक्टिस करता था जैसे वह किताब नहीं कोई पुराना किला हो जिस पर नुकीले पत्थर या चाकू से अपना नाम उकेरने का उसे अलिखित अधिकार हो.

कुछ किताबें तो रद्दी में भी तुल जाती थीं. कुछ किताबें एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे तक यात्रा ही करती रहती थीं. उसे पता ही नहीं होता था कि आखिर फिलहाल वह फलाने के पास है या ढिकाने के पास. अशोक लौटकर न आने वाली उन किताबों के वियोग में तड़पता रहता था. धीरे-धीरे उसने लोगों को किताबें देना ही बंद कर दिया था. अखबार के पठनीय रविवारीय पृष्ठ भी वह संभालकर रखा करता था जिन्हें वह गाहे-ब-गाहे पढ़ता रहता था. ऐसे पृष्ठों का भी उसके पास अच्छा खासा संग्रह था. अशोक उस दिन शहर से अपने बैग में ठसाठस किताबें भर कर लौटा था. उसे जब वह दिन याद आता है उसके दिल में एक टीस की लहर सी उठने लगती है. दीपू का मासूम चेहरा उसे आज भी याद है. तीन वर्षीय दीपू बैग को उत्सुकता से देख रहा था. अशोक बैग से किताबें और पत्रिकाएँ निकालने में तल्लीन था. वह करीब सभी किताबें निकाल चुका था. दीपू ने उसका ध्यान खींचने के लिए धीरे से पुकारा-पापा. दीपू अपने पापा को बड़ी हसरत से देख रहा था. अशोक कभी किताबों के कव्हर देख रहा था तो कभी उनके पन्ने उलट-पलट रहा था. उसका ध्यान दीपू पर बिल्कुल नहीं था जबकि दीपू का पूरा ध्यान अशोक पर ही था. दीपू ने फिर पुकारा-पापा.

बोलो, दीपू. उसने लापरवाही से कहा. वह अभी तक उन किताबों में ही खोया हुआ था. उसने दीपू की ओर देखे बिना ही उसे बोलने का कह दिया था. पापा जैसा स्नेहसिक्त शब्द भी उसकी तल्लीनता पर से फिसलकर नीचे गिर चुका था.

दीपू ने अपने नर्म गुदगुदे हाथों से अशोक की ठोड़ी पकड़कर अपनी ओर घुमाकर बहुत मासूमियत से झिझकते हुए पूछा-मेरे लिए क्या लाए पापा? दीपू का यह वाक्य सुनकर अशोक को लगा कि उसे किसी ने सहसा गहरी खाई में धकेल दिया हो. वह धक्क सा रह गया. अबोध दीपू की आँखों को देखकर उसे लगा कि उससे अनजाने में कोई बहुत बड़ा अपराध हो गया हो-अक्षम्य अपराध. वह दीपू की पारदर्शी आँखों को झेल नहीं पा रहा था. वह उसका गुनहगार हो गया था. उसे कुछ समझ नहीं आ रहा था कि वह किसके पीछे अपना यह लज्जित चेहरा छुपा ले. सारी किताबें मिलकर भी उसका मुँह ढकने में असमर्थ थीं.

...वह अवाक था. दीपू के इस प्रश्न ने उसकी तल्लीनता के परखच्चे उड़ा दिए थे. उसे अपनी गलती का एहसास हो चुका था. सचमुच उसके झोले में दीपू के लिए कुछ नहीं था.

कोई बात नहीं पापा. रहने दो. दीपू भले ही अभी पढ़ना न जानता हो लेकिन उसने अपने पापा की आँखों में पढ़ लिया था, वे उसके लिए कुछ नहीं लाए हैं. वह एकाएक बड़ा हो गया था. उसका बचपन गायब हो गया था. ऐसा तो बड़ा ही बोल सकता है बच्चा नहीं. यकायक उसे अपनी लायी हुई सारी किताबें और पत्रिकाएँ दुश्मन लगने लगीं. मन किया अभी उनका ढेर लगाकर उनमें आग लगा दूँ. इन किताबों के कारण तो वह अपने बच्चे तक को भुला को बैठा था.

पत्नी भी तल्लीनता से यह दृश्य देख रही थी. वह पति की ओर देख कर विद्रूपता से मुस्कुरा रही थी कि वे बच्चे के लिए कुछ नहीं लाए तो उसके लिए क्या लाए होंगे! उसका इस बाबत पूछना तो व्यर्थ ही है. अशोक बुरी तरह आहत था. उससे यह भूल कैसे हो गई! कस्बे से एक सौ तीस किलोमीटर दूर शहर वह रोज़ तो जाता नहीं. बच्चे की यह अपेक्षा तो स्वाभाविक ही है कि उसके पापा इतनी दूर गए हैं तो उसके लिए कुछ लाए ही होंगे. वह बच्चे के लिए खिलौना न सही, एक पिक्चर बुक या बाल पत्रिका ही ले आता. एक छोटा सा बिस्किट का पैकेट ही ले आता. यह भी नहीं था कि उसके पास पैसे नहीं थे. पैसे तो थे उसके पास लेकिन वह तो किताबों की दुनिया में ही इतना खो गया था कि उसे यह भान ही नहीं रहा कि इस दुनिया के अलावा भी एक दुनिया है, एक असली दुनिया. यथार्थ की दुनिया, जिसके सभी पात्र असली हैं, काल्पनिक नहीं.

कोई भी चीज, कितनी ही मामूली, जब वह बच्चे के हाथ पर धरता तो वह कितनी खुशी से भर जाता. वह कितनी उत्सुकता से उसके आने की प्रतीक्षा कर रहा होगा. किताबें खरीदते समय भी वह अपने बच्चे और पत्नी को भुला ही बैठा था जैसे दुनिया में इन किताबों के अलावा कुछ नहीं.

अशोक ने किताबों को वैसा ही वहीं छोड़ दिया. वह उठा और बाजार की ओर चल पड़ा. ठंड का मौसम था. वह गजक का एक पैकेट लेकर लौटा. कुछ समय बाद दीपू गजक खा रहा था. किताबों की दुर्गति देख अशोक को आज फिर वह दिन याद आ गया था. फिर दीपू का प्रश्न और चेहरा सामने था. उसे वे किताबें दुश्मन लगने लगी थीं. उनमें दीमक लग भी गई तो क्या!

क्लास by बड़े भाई

तीसरा चरण पार करना ही होगा

संदीप द्विवेदी
कवि/प्रेरक वक्ता/स्किल ट्रेनर

मेरा बचपन गाँव में बीता है और मेरे गाँव को छूती हुई एक छोटी सी नदी गुज़रती थी. सारा गाँव वहीं तैरना सीखता था या यूँ कहें तैरना सीखने के लिए वो हमारे और आसपास के गांवों का इंस्टिट्यूट था और हमारे कोच मेरे बड़े भाई, हमारे चाचा ताऊ, पापा यह सब होते थे. कोई फीस नही लगती थी.

वो यह काम तीन चरणों में पूरा करते थे. पहले चरण में आपको तैरने का आनंद, गाँव के बड़े तैराक जिनको देखकर भीतर आपमें सीखने की इच्छा पैदा हो, प्रेरणा मिले, उनको दिखाया जाता था और फिर तैरने की कई बारीकियां समझाई जाती थी.

इसके बाद का दूसरा चरण था कि हमारे साथ हमारे कोच नदी में मेरे साथ उतरते थे, मुझे पकडे रखते थे और स्वयं से प्रयास करने के लिए कहते थे लेकिन मैं डर की वजह से अकेले प्रयास नहीं कर पाता था, मेरे कोच यह अच्छी तरह समझते भी थे कि बिना तीसरे चरण के बात पूरी बनेगी नही.

तीसरा चरण कोच का अंतिम चरण होता था, जिसे हर सीखने वाला नाम दिया करता था मौत का खेल.. ह ह ह,

इसमें हमें किनारे पर खड़ा किया जाता था और मेरे चीखने चिल्लाने की परवाह न करते हुए सीधा नदी में धक्का दे दिया जाता था. गिरने के बाद मैं अपनी जान बचाने के लिए वो सारे दांव अपना लेता था जो मेरे कोच ने बताया था. कोच बस यमराज से मिलन की स्थिति बन जाने पर ही सामने आता था.

उन तरीकों से पहली बार यदि दो मिनट भी कोई अपने को नदी में संभाल पाया तो बस फिर जीवन भर के लिए वो हुनर सिद्ध हो जाता है, यह मेरा निजी अनुभव है और अब तो मैं तैराकी के हजार करतब दिखा सकता हूँ.

छोटे भाई, कोच, इस तीसरे चरण को बेहद ज़रुरी मानते थे, वो कहते थे कि इसके बिना कितना भी सिखा दो तैरना नही सीखा जा सकता. इस चरण से गुज़ारे बिना हम सब जानते हुए और आते हुए भी कुछ बड़ा नही कर सकते.

हमें बड़ा करने के लिए चुनौतियों से सीधा भिड़ना होगा और यही हमें औरों से अलग बना सकता है. बाकी कौन सा काम कैसे करना है, आज के समय में सबको पता करना बाएं हाथ का काम है.

इसी वजह से कई बार हमें जो सारी बारीकियां हमें सिखाते हैं, इस अंतिम चरण को पार करने की हिम्मत न जुटा पाने के कारण वो कुछ नही कर पाते लेकिन उनका कोई विद्यार्थी उसी चरण को हिम्मत जुटाकर पार कर जाता है और बड़ा हासिल करता है.

आप समझ गये होंगे. बस यही कहना था, धन्यवाद

पुस्तक समीक्षा

बस, तुमः प्रेम की विलक्षणता की कविताएँ

सुरेश गुप्ता

अग्रज कवि श्री सुधीर सक्सेना का नया कविता संग्रह बस, तुम पढ़ाते पढ़ता ही चला गया. कब रात का दूसरा पहर आ गया, पता ही नहीं चला. सोचा 79 कविताओं पर ही बस, क्यों. सुधीरजी एक सैकड़ा कविताएँ भी इस संग्रह में पिरोते तो भी प्यास नहीं बुझती.

सुधीरजी की भाषा, उनके भाषायी वितान से मैं उनके पत्रकारीय लेखन के दिनों से ही मुरीद हूँ, बल्कि यूँ कहें कि इश्क करता रहा हूँ. पूर्व में अनेक संग्रहों की कविताओं में उन्होंने अपने भाषायी कौशल का यथेष्ट प्रमाण दिया है. (बस, तुम) में तो उनका यह कौशल अपने उरूज पर है. उनकी भाषा कब देशज और जनपदीय हो जाती है, कब विशुद्ध देवनागरी और कब नितांत वैज्ञानिक शब्दावली से बावस्ता हो जाती है, वह पढ़ते ही बनता है.

इस संग्रह को पढ़ते सुधीरजी की दो कविताएँ (जब चन्द्रमा बजाता है बाँसुरी) और (तुम, समुद्र से नहाकर निकली और पहाड़ को तकिया बनाकर लेट गयी, घास के बिछौने पर अम्लान.) बरबस याद आ गयीं. मुझे लगता था कि इनसे बढ़कर प्रेमिल भावाभिव्यक्ति क्या ही हो सकती है. अपनी छोटी सोच में मैं गलत था. (बस, तुम)की कविताएँ उन कविताओं से कहीं आगे, कहीं गहरी, ऐन्द्रिक और प्रेम की आदिम सुरंग में पैबस्त है.

ये कविताएँ तुम्हें, जिसे प्रेम किया और उन्हें भी जिन्हें चाहा कि उनमें भी तुम्हारा ही अक्स था. अपनी पत्नी के दिवंगत होने के बाद पहले संग्रह में यह पंक्तियाँ सुधीरजी के अप्रतिम प्रेम के साथ ही साहस को भी बताती हैं, भला कौन व्यक्तिए फिर चाहे वह कवि ही क्यों न हो, ऐसा लिख सकता है. मुझे लगता है यह साहस, उनके पत्रकारिता कर्म के पार्श्व से इन पंक्तियों में आ पाया.

संग्रह की पहली कविता की इन पंक्तियों को देखे.

गयी ही कहाँ हो तुम कहीं
तुम हो अनुपस्थिति में उपस्थित,
मेरा एकालाप भी वार्तालाप है तुमसे
मुसलसल
लोक की बस लोक जाने
पर हमारे वास्ते रहा प्रेम कल्पद्रुम
साथ थी, मेरे, हो, रहोगी
एक तुम !
बस, तुम !!

कवि, अपनी प्रेयसी, जो पत्नी भी बनी, और अब देवलोक भी चली गई, को अब भी अपने पास ही रहेगी,, की कामना को शब्दों में रूपावित करता है, तो पाठक सुधीरजी और भाभीजी के प्रेम राग को अपनी गीली आँखों में बंद और साँसों में तरंगित करने से रोक नहीं पायेगा. (मैं आऊंगा तुम्हारे पास) भी कुछ ऐसी ही कविता है. अपनी दिवंगत पत्नी के लिए लिखी ये सभी 79 कविताएँ प्रेम के, अनुराग के, मिलन के भावों को जिस विलक्षणता के साथ प्रकट करती है, वह कवि के साथ हमें भी उनके प्रेमल संसार में लिये जाती है. ऐसा बहुत कम होता है कि किसी दूसरे के प्रेम, प्रेमिकाए दिवंगत पत्नी के साथ साहचर्य से हम इस हद तक प्रभावित हो कि ष्इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में ही सहीष् ऐसा प्रेम हम भी करें और हो सके तो उसे कविता में पिरोये,ष् की ख़्वाहिश कर बैठे. इस संग्रह को पढ़कर ऐसी ही ख्वाहिश होती है हमारी.

सुप्रिया साथ है खुले आसमान तले
बारिश में
बरसात में सचमुच बरसती है शराब.
या
प्रेम से नहीं मौत की तारीख
अलबत्ता प्रेम से बदल जाती है जिंदगी
आमूलचूल.
या
वक्ष की स्मृति में है
आलिंगन
होंठों की स्मृति में है
चुम्बन
स्मृति और कुछ नहीं चाहती
फिर से हरी हो स्मृतियाँ.

जैसी पंक्तियाँ में भरी प्रेम की स्मृतियों की शराब भला कौन नहीं पीना चाहता. अति साँकरी प्रेम की गली सुधीरजी की इस संग्रह की कविताओं में अभूतपूर्व विस्तार पाती है, वह देश.विदेश में भ्रमण कराती है पाठक को प्रेम, प्रेमिका, आंगिक सौष्ठव से एकाकार करती. कभी कंपित होती, कभी सुवासित करती. कवि कहता भी है.

सातवीं ऋतु है प्रेम
सातों ऋतुओं को समाये अपने आप में.
या
नीम सन्नाटे में हठात
बजती है चूड़ियाँ
जब.जब ऐसा होता है
हिनहिना उठते हैं सूरज के सातों घोड़े
या
प्रिया की एक चितवन
और मैं उछाल दूंगा
काल को किसी गेंद की तरह
दूर बहुत दूर
किसी ग्रह के
अनजान आसमान में.

(बस, तुम) संग्रह में कविता में प्रेम, जिस तरह गुंफित्त हुआ है, वह कवि की भाव और शब्द सम्पदा से ईर्ष्या पैदा करता हैं. प्रेम कभी गाँठ हो जाता है, कभी गुम्मढ़, कभी मिस्टिरियस क्रास, कभी उबटन, कभी व्यूह, कभी शहद, कभी नमक, कभी सोना, कभी गोदना, कभी रसायन, कभी जीरा और न जाने कितने बिम्बों में. प्रेयसी इस संग्रह में वसुंधरा है तो चेरी.पलाश जित्ती लाल भी, वीरबहुटी भी, उपमाओं से भरी है. प्रेयसी की याद, उसके साथ बिताये पल, सुना संगीत, पी शराब जैसे प्रसंग जितना सुधीर भाई को उद्वेलित कर रहे हैंए पाठक भी उद्वेलित हुए बिना नहीं रहेगाए इसमें कोई संशय नहीं है.

इस संग्रह की कविताओं की भावभूमि अपनी प्रिया की गहन स्मृतियों की है. यह कवि की प्रेम यात्रा की बानगी भी है. इन कविताओं में अपनी प्रियाए अपनी सहधर्मिणी के साथ कवि की बराबर की मौजूदगी है. यह बराबर ही मौजूदगी ही सच्चे अर्थों में प्रेम का मर्म बताती है.

पुस्तक- बस, तुम- कविता संग्रह
कवि - सुधीर सक्सेना
प्रकाशक- आधार प्रकाशन, पंचकुला

कविता एवं ग़ज़ल

मंजू जैन

रात की हथेलियों पर चाँद

गहराती रातों में
बंद आँखें देखती रही स्वप्न
पर कुछ खुली आँखें भी थीं
जो जुटी रहीं उन्हें साकार करने

रात में नीरवता की पीठ पर
अंकित करती रही
अपने भाव
जिन्हे सिर्फ सन्नाटे ही समझते
शोर की गोद में वो सो जाते हैं

रातें काली ही नही होती
कुछ रातों की
हथेलियों पर
चाँद भी खिलता है.

कथाएं

पोखर की मौत

बसंत राघव

घने जंगलों से घिरे हुए उस गांव के बाहर वह एक मात्र पोखर था, जिसमें जंगली हिरण - शावक, पशु - पक्षी अपनी प्यास बुझाने आते थे. असंख्य वनैले जानवरों का यह जीवन - पात्र सदियों पूर्व हुए भूस्खलन का परिणाम था. जो स्वयम्भू और गहरा था. जिसका निर्मल शीतल जल अमृत - तुल्य सुस्वादु और प्यास बुझाने वाला था. आसपास की गायें भी इसी पोखर के जल से तृप्त होती थीं. गर्मी के दिनों में भी वह पोखर जल से भरा रहता था. उसका जलस्रोत वनचरों के प्राण रक्षक की तरह था. पोखर के किनारे एक बहुत बड़ा विशाल बरगद का पेड़ था. साम्हर, हिरणों, कोटरियों और वनभैंसा और बारहसिंगों का समूह निश्चिंतता और अभयता में इसी बरगद की जड़ों से अपना सींग खुजाता. यह स्थान उनके लिए एकमात्र निरापद और सुकून भरा होता. नन्हें - नन्हें खरगोश पोखर के आसपास ऊगे हरी- हरी दूबों को खाकर अपना पेट भरते रहते.

बरगद का विशाल वृक्ष झुक- झुककर अपना प्रतिबिंब पोखर के दर्पण - से निर्मल जल में देख लेता. चंचल उत्पाती लंगूर उसकी लम्बी - लम्बी शाखाओं पर कूद- फांद में सुबह से शाम तक व्यस्त रहते. बेधड़क उत्पाती लंगूरों को गहरे पोखर के जल में गिरने का कोई डर न था. नीचे पसरा पोखर उन्हें उनका रक्षक नज़र आता था. शाम को जब सूरज पश्चिम में छिपने को होता तो भालूओं का परिवार अपनी खोहों से पोखर किनारे बाँबी की भुरभुरी मिट्टी या दीमक के ढेर को खाने के लिए निकलता और फिर पोखर के जल को जी भर पीकर अपनी उसी बस्साती खोहों में लौट जाता, किसी मनुष्य से बिना कोई अपेक्षा किये.

मगर उस जंगल से लगा हुए गांव का मुखिया निपट स्वार्थी किस्म का आदमी था. उस आत्मकेंद्रित व्यक्ति ने अपने निजी लाभ के लिए पोखर का सारा पानी अपने खेतों में उलीच लिया. हालांकि इसके लिए उसके पास अन्य सुविधाएं भी थीं मगर उसके बावजूद उस बनिया किस्म के आदमी ने पोखर का एक - एक बूंद जल सोख लिया. इसके पीछे उसकी शायद यह सोच थी कि अगर पोखर में पानी नहीं रहेगा तो जंगली जानवर भी नहीं आयेंगे और उसके खेत जंगली जानवरों की अनुपस्थिति से और ज्यादा सुरक्षित रहेंगे. जंगल के जीव पानी के लिए त्राहि- त्राहि करने लगे. समूचा कमल वन निष्प्राण - सा हो गया. हजारों जलचरों का जीवन समाप्त हो रहा था. लेकिन उस निर्दय को तो केवल अपनी ही फसल की चिंता थी. वह रात भर अपने खेतों की रखवाली करता रहता. लोग उसके इस दुस्साहस और स्वार्थपरता से क्षुब्ध थे. उसकी घरवाली रोज सुबह उस पर बिफरती मगर उसे कोई फर्क नहीं पड़ता. पत्नी की बातों से उसके कानों में जूं तक नहीं रेंगती थी. उसके मन प्राणों में झूमती हुई गेंहू की बालियां ही बसी रहतीं.

चैत का महीना आ गया था. हवा में उमस थी. वह एहतियात बरतते हुए जंगल के बीच स्थित अपने खेतों में रात भर तैनात रहता. उसे हमेशा डर लगा रहता था कि कहीं से बन्दरों का समूह या भालूओं का झुंड उसके खेतों में आकर फसल को चौपट न कर दे. वह रात - रात भर लकड़ियां जलाता और सूखी -गीली लकड़ियों से धुंधुवा कर अपने एकाकीपन को दूर करने की कोशिश करता. उस एकांत में वह कभी- कभी आग की नाचती हुई लपटों से डरने भी लगता. उसमें उसे डरावनी - डरावनी विभिन्न आकृतियां दिखतीं. ऐसे ही एक रात भालूओं का परिवार प्यास से व्याकुल होकर पोखर के पास आया और पोखर की छाती पर बड़ी - बड़ी दरारें देखकर, अचानक पागलों की तरह उस आदमी पर पिल पड़ गया. उनके भीतर आग थी प्यास बुझाने की. प्यास बुझाना भी जरूरी था, चाहे वह पानी से बुझे या किसी के रक्त से. बहुत दिनों के बाद भालूओं ने मानुष रक्त से अपनी प्यास बुझाई थी.

अधूरी चिट्ठी

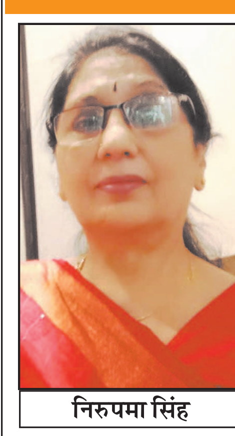

निरुपमा सिंह

डाकिया रोज़ रमेश के पिता माधव जी के घर आता जाता था. पुरानी जान पहचान थी. हर बार माधव जी पूछते रमेश की चिट्ठी आई क्या? नहीं आई बाबूजी. उनका पीड़ा समझ कर डाकिया सिर झुका लेता.

बहुत साल पहले बेटा विदेशी कंपनी में कार्यरत था. कंपनी वालों ने पाँच वर्ष के लिए अमेरिका भेजा था, सो वहीं का होकर रह गया. पांच वर्ष तक तो सही था जबकि पिताजी नहीं चाहते थे कि बेटा उनसे दूर रहे या विदेश जाकर बसे. पत्नी भी कुछ दिन पहले ईश्वर को प्यारी हो गई थी. ख़बर दे दी गई थी. तब भी बेटे ने वीज़ा न मिलने का कारण बता दिया था. माधव जी ज़ार ज़ार रो पड़े थे. बेटा माँ को मुखाग्नि देने भी नहीं आ सका था.

बेटे ने वहाँ जाकर कुछ दो-तीन साल तक तो पत्र लिखे पर अब कुछ माह से पत्र लिखना बँद कर दिया था.

एक दिन डाकिया ने देखा, माधव जी के कमरे में दर्जनों अधूरी चिट्ठियाँ पड़ी हैं—हर पन्ने पर सिर्फ़ शुरुआती एक पँक्ति लिखी थी बेटा, तू कैसा है?

इतना पढ़कर डाकिया की भी आँखें भर आईं. उसने मन में निश्चय किया कि खुद उनके नालायक बेटे को खोजकर लताड़ेगा. जब बहुत प्रयास के बाद भी उसका अता-पता नहीं लगा तो डाकिया ने खुद से एक चिट्ठी लिखी और माधव जी तक पहुंचा दी. पुत्रमोह में अधीर माधव जी ने यह भी नहीं देखा कि, कहाँ से आई है? बिना जाने ही वह एक सांस में चिट्ठी पढ़ गए. उनकी झुर्रियों भरी आँखों से आँसू बह निकले—अधूरी चिट्ठियों का दर्द आखिर पूरा हो गया था.

चांदनी पांडेय

रोज़ तय करती हूँ कि अब न तुझे सोचूँगी
तेरा ग़म रोज़ ही अपनी पे उतर जाता है.

जाने क्या सोच के गुम सुम मैं कई रोज़ से हूँ
जैसे तितली के कोई पँख कतर जाता है.

मुद्दतों रहता है अहसास ए जुदाई सबको
फिर सलीके से ये अहसास भी मर जाता है.

दर्द में रोऊँ कि चिल्लाऊं कि ख़ामोश रहूँ
इस पशोपेश में हर रोज़ गुज़र जाता है.

नीम बेहोशी में डूबा हुआ इक सन्नाटा
शाम होते मेरे आँगन में उतर जाता है...

संपादकीय बोर्ड | प्रबंध संपादक : सुमीत माहेश्वरी, समूह संपादक : क्रांति चतुर्वेदी